ब्रांड : सरकारी स्कूल

दिलीप रांजेकर



जब अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन ने ग्रामीण सरकारी स्कूलों के साथ काम करने और शासकीय स्कूली शिक्षा–व्यवस्था (न कि विशेष भौगोलिक इलाकों या स्कूलों) पर ध्यान केन्द्रित करने का बुनियादी निर्णय लिया तो वह शासकीय स्कूली व्यवस्था में मौजूद विभिन्न चुनौतियों के बारे में भली–भाँति जागरूक था। यह फाउण्डेशन के लिए कई तरह से एक स्वाभाविक निर्णय था।

हमने सामाजिक परिवर्तन में योगदान के लिए कई राहों का मूल्यांकन किया और शिक्षा हमें उनमें सबसे शक्तिशाली रास्ता लगा। शिक्षा के क्षेत्र में भी हमारे पास कई विकल्प थे – जैसे उच्च शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, प्रबन्धन–शिक्षा आदि। हमें एहसास हुआ कि सब शुरुआत तो स्कूली शिक्षा से होती है, इसलिए स्कूली शिक्षा के क्षेत्र को प्राथमिकता देते हुए काम करना एक स्वाभाविक निर्णय था।

1998 में उपलब्ध जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़ों से ज्ञात हुआ था कि हमारे देश के 84% बच्चे (ग्रामीण भारत के 88% से भी अधिक) सरकारी स्कूलों में पढ़ रहे थे। सबसे बड़ी चुनौती सम्भवतः यह थी कि करीब–करीब 59 मिलियन (5 करोड़ 90 लाख) बच्चे स्कूल से बाहर थे। PROBE की रिपोर्ट से बच्चों के स्कूल से बाहर रहने या स्कूल से बाहर धकेले जाने के कई कारणों का पता चला।

हमने यह भी पाया कि समाज के मध्य वर्ग और उससे ऊपर के लोगों ने सरकारी स्कूलों को त्याग दिया था – असल में तो उन्होंने अधिकतर सार्वजनिक सेवाओं को त्याग दिया है जैसे कि स्वास्थ्य, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, यातायात आदि। इसलिए सरकारी स्कूल में अब केवल उन तबकों के बच्चे आते हैं जिनके पास न तो आवाज है और न ही कोई विकल्प। स्वाभाविक ही था कि इसके चलते शासकीय व्यवस्था पर शिक्षा समेत बेहतर सार्वजनिक सेवाएँ प्रदान करने का दबाव बहुत हद तक घट गया।

कुछ समय बीतने के साथ हमें एहसास हुआ कि यह कितना व्यापक परिदृश्य है। 13 लाख स्कूल थे, 2 करोड़ 50 लाख बच्चे, 70 लाख शिक्षक और बाहर से स्कूलों को सहायता करने वाले 10 लाख लोग और भी थे। बड़ी व्यवस्थाओं को सम्भालने की समझ रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की प्रणाली में कुछ घटित कर पाने, कुछ हलचल करने के निहितार्थ को समझ सकता है – मुख्यतौर से इसके कद और आकार की वजह से। क्रियान्वयन की जटिलताएँ इस वजह से और भी बढ़ जाती हैं कि शिक्षा को 30 विभिन्न राज्यों द्वारा अपनी–अपनी स्थितियों, संस्कृतियों और सामाजिक–आर्थिक हालात के अनुकूल संचालित किया जाना है।

वर्ष 2000 में सर्व शिक्षा अभियान के आने के बाद सरकार द्वारा कई सकारात्मक कदम उठाए गए जिसके चलते स्कूलों और कक्षा–कक्षों की संख्या, शौचालय और पीने के पानी की सुविधाओं, शिक्षकों की नियुक्तियों की संख्या आदि में बहुत अधिक बढ़ोतरी हुई। लेकिन बहुत बड़ी संख्या में ऐसे स्कूल हैं जहाँ गुणवत्ता और समता नहीं हैं। आजादी के 68 साल और राष्ट्रीय शिक्षा–नीति के 30 साल बाद भी लड़कों और लड़कियों, शहरी और ग्रामीण के बीच के आँकड़ों में 25 प्रतिशत तक का अन्तर है।

असहज करने वाले कई मुद्दे हैं – सरकारी स्कूलों द्वारा शिक्षा का अधिकार के नियमों का पालन बहुत ही बुरी हालत में है, स्कूलों में शिक्षक–विद्यार्थी अनुपात बहुत ही अपर्याप्त है, स्कूलों को अकादमिक सहायता देने के लिए निर्मित महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के पास बहुत ही अपर्याप्त संसाधन हैं – और यह बात परिमाण और गुणवत्ता, दोनों स्तरों पर लागू होती है। स्कूलों को उपलब्ध करवाए गए संसाधन भी बहुत अपर्याप्त हैं।

व्यवस्थागत स्तर पर कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं निर्णायक मुद्दे इस प्रकार हैं – (क) देश में शिक्षक–शिक्षा के लिए पाठ्यचर्या, उसकी अवधि, बुनावट और उसके कार्यान्वयन की गुणवत्ता (ख) रटन्त पर आधारित परीक्षा–प्रणाली (ग) शिक्षा के क्षेत्र के लिए हरफनमौला

पेशेवर विकसित करने हेतु लगभग किसी भी ऐसे शिक्षा–स्कूल का न होना जो आवश्यक शैक्षिक परिप्रेक्ष्य, विषयों, शिक्षाशास्त्र, शैक्षिक प्रबन्धन, मूल्यांकन, शिक्षा में तकनॉलाजी, प्रारम्भिक शिशु–शिक्षा, विशेष प्रकार से योग्य बच्चों के लिए शिक्षा आदि की गहरी समझ प्रदान करे। इसी का नतीजा है कि शिक्षा–व्यवस्था में उच्च गुणवत्तापूर्ण लोगों की बहुत कमी है। क्लस्टर, खण्ड, जिला और राज्य–स्तरीय अकादमिक संस्थाओं में लोगों की कमी का यह अकेला बड़ा कारण है। इसके बावजूद राष्ट्रीय शिक्षा नीति के तहत अनुशंसित भारतीय शिक्षा सेवा के निर्माण के लिए कोई दृढ़ निश्चय दिखाई नहीं देता।

उपरोक्त सबके अलावा व्यय हेतु सरकारी धन की जबरदस्त किल्लत के चलते सरकारी स्कूलों की छवि और प्रतिष्ठा बहुत हद तक कमजोर हुई है।

सरकारी शिक्षा व्यवस्था द्वारा क्रियान्वयन सम्बन्धी जिन समस्याओं का सामना किया जाता है, वे वैसी ही हैं जिनका सामना अधिकतर बड़ी संस्थाओं या संगठनों को करना होता है। इसलिए इन्हें केवल सरकार के सन्दर्भ में चर्चा में लाना न्यायोचित नहीं लगता। व्यक्तिगत तौर पर मुझे सरकार और कई बड़ी संस्थाओं/संगठनों के काम के तौर–तरीकों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखता। आमतौर पर ये मुद्दे पाए जाते हैं – निर्णयों का लागू किया जाना सुनिश्चित होना, प्रतिभाओं को भर्ती करना, बनाए रखना और उत्साहित करना, उनके अच्छे प्रदर्शन और गुणवत्ता को सुनिश्चित करना। निजी/कॉरपोरेट संस्थाओं को एक फायदा है – संस्था में काम करने वाले लोगों के पास एक मुद्दा होता है जिसके इर्द–गिर्द वे एकत्र हो जाते हैं, यानी पैसा या मुनाफा। दूसरी ओर, शिक्षा के बारे में विभिन्न हितधारकों का अलग–अलग नजरिया होता है।

सरकारी व्यवस्था में कुछ और दिक्कतें भी हैं – राजनैतिक हस्तक्षेप, किसी एक भूमिका के व्यक्ति के उस भूमिका में रहने के समयकाल की अनिश्चितता, प्रदर्शन के प्रबन्धन की संस्कृति न होने की वजह से जवाबदेही का न होना और जोखिम उठाने पर प्रशंसा का होना।

लेकिन इन सब बातों के बावजूद मेरे साथी और मैं, जो सरकारी स्कूलों और कार्यालयों में काफी जाते हैं, इन स्कूलों और कार्यालयों में बहुत कुछ ऐसा देखते हैं जो हमें प्रेरित करता है। यह सही है कि मजबूरियाँ और सीमाएँ तो एक–सी हैं लेकिन सभी भूमिकाओं (शिक्षक, विद्यालय प्रधानाचार्य, क्लस्टर–खण्ड–जिला अधिकारी तथा अभिभावक–समूह) में पर्याप्त लोग हैं जो अपनी–अपनी जिम्मेदारी को निष्ठा से निभाने के अपने तरीके से हमारे मन में अपने लिए बहुत सम्मान पैदा करते हैं।

उनका पक्का इरादा हमारी इस आशा को जीवित रखता है कि व्यवस्था अन्ततः लोगों की एक महत्त्वपूर्ण निर्णायक संख्या विकसित कर पाएगी जो कक्षा में वह परिवर्तन पैदा करेंगे जिसकी कल्पना हमारे संविधान, हमारी शिक्षा नीति और हमारी पाठ्यचर्या की रूपरेखा में की गई है। शिक्षा–प्रशिक्षण के कुछ जिला संस्थानों के प्रधानाचार्य अपने पथ पर बने रहते हुए स्कूलों के लिए कुछ सार्थक अकादमिक निवेश प्रदान कर रहे हैं – और वे आवश्यक मूलभूत ढाँचा, लोग तथा गुणवत्तापूर्ण मानव–संसाधन उपलब्ध न होने के बावजूद यह कर रहे हैं। देश भर के जिला–स्तरीय शिक्षा–प्रशिक्षण संस्थानों में उपलब्ध शिक्षकों की औसत संख्या केवल 10 है (जब कि मान्य संख्या 20 है) और उसमें भी विषय–सम्बन्धी विस्तार विषम है। ऐसे संस्थान भी हैं जहाँ केवल दो शिक्षकों की ही नियुक्ति है। लेकिन प्रधानाचार्य ने अपने हौसले को कम नहीं होने दिया है।

कुछ महीने हुए एक खण्ड शिक्षा अधिकारी से बातचीत के दौरान मैंने पूछा, "आप अपने खण्ड में 45% से भी अधिक एकल शिक्षक स्कूल होने के बावजूद काम कैसे चला रहे हैं?"

उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा, "एकल–शिक्षक स्कूलों की बात छोड़िए – मेरे खण्ड में तो 127 'शिक्षक–रहित' स्कूल हैं।" वे इन स्कूलों के शिक्षकों को बिना उनका स्थाई तबादला किए एक से दूसरे स्कूल में अस्थाई तौर पर भेज कर काम चला रहे हैं। वे खुश रहते हैं और जिम्मेदारी के जबरदस्त एहसास के साथ पूरे जोश से काम कर रहे हैं।

दूर–दराज के इलाकों के कई प्रधानाचार्य हैं जो एकल–शिक्षक और कुछ मामलों में 'शिक्षक–रहित' स्कूल होने के बावजूद पूरी मेहनत कर रहे हैं कि वहाँ पढ़ रहे बच्चे अच्छे से सीख पाएँ। संसाधनों के अभाव और व्यापक व्यवस्था द्वारा उपेक्षा के बावजूद वे पूरी कोशिश करते हैं कि उनके स्कूल साफ–सुथरे हों,

उपयुक्त एसेम्बली हो, शिक्षक सच्चे भाव से पढ़ाएँ, वंचित बच्चों का ध्यान रखा जाए, स्कूल प्रबन्धन कमेटी की नियमित (और सार्थक) बैठकें हों तथा उपस्थित बच्चों को सही ढंग से मध्याह्न भोजन मिले। वे सुनिश्चित करते हैं कि सरकार द्वारा उपलब्ध करवाई गई विज्ञान–किट का उचित इस्तेमाल हो। मैं ऐसे ही एक प्रधानाचार्य को दो सप्ताह पहले ही मिला और यह मेरे लिए एक बहुत ही संतुष्टिपूर्ण अनुभव था। इस स्कूल में पाँच कक्षाएँ थीं और प्रधानाध्यापक के अलावा बस दो ही शिक्षक थे। आप उनकी उपस्थिति को हर जगह महसूस कर सकते थे। और उनकी चिन्ता को भी, जो उस शिक्षक के प्रति भी झलक रही थी जिसे अपने पति और बच्चे को एक दुर्घटना में खोना पड़ा था। इस दुर्घटना में शिक्षिका को भी चोट लगी थी और उन्हें अब अचानक दौरे पड़ते थे...... स्कूल में हमारी मौजूदगी के दौरान भी हमने ऐसा देखा। जिस तेजी और चिन्ता से प्रधानाचार्य ने कदम उठाए, वह सच में देखने लायक बात थी। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि प्रधानाचार्य को अच्छे प्रदर्शन के लिए राज्यपाल से पुरस्कार भी मिल चुका है।

ऐसे शिक्षक भी हैं जो प्रतिकूल मौसम और दूरी की भी अवहेलना करते हुए स्कूल पहुँचते हैं, कक्षा में बच्चों का पूरा–पूरा ध्यान रखते हैं, अपने आसपास होने वाली नई बातों को समझने की कोशिश करते हैं और सुनिश्चित करते हैं कि बच्चों को अपने वातावरण से सीखने को मिले। ये शिक्षक स्वयं भी सीखने को तत्पर रहते हैं। ये अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के स्वैच्छिक शिक्षक मंचों की बैठकों में आते हैं – स्कूल के समय के बाद, इतवार तथा छुट्टी के अन्य दिनों में भी। वे अपने पेशेवर काम को एक नया अर्थ देना चाहते हैं। अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में हम यह बात कभी भी नहीं समझ पाए कि शिक्षकों को आमजन के द्वारा इतना बदनाम क्यों किया जाता है – खासतौर से उन लोगों द्वारा जो कभी सरकारी स्कूलों में गए ही न हों।

ऐसे मौके भी आए हैं जब सरकार के शिक्षा अधिकारियों के साथ हुई हमारी बैठकों में उन्होंने बच्चों द्वारा सरकारी स्कूल छोड़कर निजी स्कूलों में जाने सम्बन्धी भय और चिन्ता हमारे साथ साझा की। वे सब सहमत हैं कि सरकारी स्कूलों में बेहतर मूलभूत ढाँचा, अधिक योग्यता–प्राप्त और बेहतर तनख्वाह वाले अध्यापक, बेहतर अकादमिक मदद, सेवाकालीन प्रशिक्षण और अधिक प्रति–विद्यार्थी व्यय होता है। लेकिन उनमें से अधिकतर अपने बच्चों को निजी स्कूलों में दाखिल करवाते हैं और यह भी नहीं बता पाते कि ऐसा क्यों है। काफी चर्चा और छानबीन के बाद पता यह चलता है कि पिछले कुछ सालों से सरकारी स्कूलों की प्रतिष्ठा और ब्रांड को मार झेलनी पड़ी है। किसी न किसी तरह से निजी स्कूल ऐसा आभास देने में सफल रहे हैं कि उनकी शिक्षा अधिक गुणवत्तापूर्ण है। हाँ, यह बात किसी शोध के नतीजों पर आधारित नहीं है। बल्कि पिछले 12 साल के सब शोधों ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि सार्वजनिक और निजी स्कूलों में दी जा रही शिक्षा की गुणवत्ता में कोई अन्तर नहीं है और अगर है भी तो सरकारी स्कूलों में यह कुछ अधिक है।

इसके अलावा इन कारकों पर भी ध्यान दें –

सरकारी स्कूलों पर यह कानूनी और सामाजिक जिम्मेदारी है कि वे दाखिला माँगने वाले प्रत्येक बच्चे को दाखिल करें। वे सामाजिक–आर्थिक वर्ग, जाति, धर्म या बच्चे के तथाकथित अकादमिक प्रदर्शन के आधार पर भेदभाव नहीं कर सकते। दूसरे अर्थ में, वे निजी स्कूलों की तरह कुछ विशेष बच्चों को चिह्नित करके प्रवेश नहीं दे सकते।

क्योंकि सरकारी स्कूलों के बच्चे अधिकतर सामाजिक–आर्थिक रूप से कमजोर तबकों से आते हैं, वे प्रारम्भिक शिशु–शिक्षा के सम्पर्क में बहुत कम या बस नाम को ही आ पाते हैं। उनके माता–पिता आमतौर पर निरक्षर या प्रथम पीढ़ी के साक्षर होते हैं और अपनी आजीविका हासिल करने के संघर्ष में लगे होते हैं और इसलिए अपने बच्चों के लिए शिक्षा सम्बन्धी सहायता देने की स्थिति में नहीं होते। इसलिए बच्चे भी पहली कक्षा में प्रवेश के लिए पूरी तरह तैयार नहीं होते। दूसरी ओर निजी स्कूलों के अधिकतर बच्चे स्कूल–पूर्व शिक्षा से रूबरू हो चुके होते हैं और सामाजिक–आर्थिक स्तर पर अधिक समृद्ध वर्ग से आते हैं और उनके माता–पिता उनके विकास के साथ सम्बन्ध बनाने की स्थिति में भी होते हैं।

सरकारी स्कूलों को इस बड़ी प्रतिकूल अवस्था से उलझना पड़ता है और आमतौर पर इसे कभी भी ध्यान में नहीं रखा जाता। अधिकतर निजी स्कूलों की तरह राजकीय स्कूलों में ध्यान केवल इस बात पर नहीं होता कि बच्चों को दसवीं कक्षा की परीक्षाओं में बेहतर प्रदर्शन करना है।

भारत की स्कूली व्यवस्था संसार भर में सबसे बड़ी है और प्रत्येक गाँव से एक किलोमीटर की दूरी के भीतर एक स्कूल होने की अद्‌भुत पहुँच इसकी अद्वितीय विशेषता है। जिस देश में मूलभूत ढाँचे का विकास (सड़कें, बिजली और पानी की आपूर्ति) बहुत पिछड़ा हुआ हो, समाज के सब तबकों तक शिक्षा की पहुँच बना पाना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

यदि इस उपलब्धि का लाभ उठाया जाना है तो हमें 'सरकारी ब्रांड स्कूल' को सक्रिय तौर पर बढ़ावा देना होगा। खोखले नारों के माध्यम से नहीं, बल्कि उन कमियों और कमजोरियों को सक्रिय तौर पर सम्बोधित करके, जो इस ब्रांड के लिए बाधा का काम कर रही हैं। हमारा विश्वास है कि यह सम्भव है। भारत जैसे देश के पास इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है कि वह अपनी सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को विकसित करे और सब बच्चों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मुहैया करवाकर इस ब्रांड को बढ़ावा दे।

दिलीप रांजेकर अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के संस्थापक सी.ई.ओ. हैं। वे विज्ञान में स्नातक हैं। उन्होंने व्यापार प्रबन्धन में स्नातकोत्तर डिप्लोमा तथा टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान, मुम्बई से पर्सोनल मैनेजमेन्ट एण्ड इंडस्ट्रियल रिलेशन्स में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त की है। उन्होंने 1976 में कैम्पस से विप्रो में प्रवेश किया। वे विप्रो की शुरुआत से उसकी संस्कृति, लहजे, प्रबन्धन तथा लोगों को विकसित करने से सम्बद्ध प्रक्रियाओं को दिशा देने वाले केन्द्रीय समूह के सदस्यों में से एक हैं। उनसे dkr@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : रमणीक मोहन